मेरे फूल

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ६१ वाँ ग्रन्थ ।

मेरे फूल

लेखक

श्रीयुत वंशीधर विद्यालङ्कार

सं० १९८३

सन् १९२७

मूल्य बारह आना ।
सजिल्दका सवा रुपया ।

पूजनीया माता

श्रीमती दौलतीबाई जी के

पूज्य चरणों में।

FOREWORD

Poetry is as simple and spontaneous a thing as a flower. They are twins in the sense that they are born under similar conditions. The flower is born after a long and difficult process in the darkness of the clay. It has to break through limitations before it can see the splendour of light. But what is a flower? It is a beautiful creation of colour and perfume and the significance of spring held subtly within the rhythmic limitations of petal and stalk, without which the flower could never happen. It is the same with poetry. Poetry lies in the form of the seed deep down in the mysterious darkness of the human heart, which is ancestral soil. It is kept cosy and warm and nourished so long as it is the nursling seed. But when the hour of flowering comes, poetry breaks through its limitations and gleams out of old darkness into the new light—a creation of colour and perfume and the meaning of individual springtime delicately imprisoned within the exquisite limitations of rhythm.

Bonds are different from bondage. Freedom holds one within bonds, while license holds one in

bondage. There is no freedom without bonds. The river must work out its destiny of silver water within the seeming limitations of two banks. The star must work out its twinkling destiny of blue fire apparently held in the bonds of space. A poet's thought must work out its holy destiny in the golden bonds of rhythm. But it is very difficult for some to distinguish between freedom and license. Our present poet most assuredly knows the difference. He has learned how to break through cramping conventions. But he is one who does not break destructively, but constructively. He is able through a strong artistic intuition combined with a sensitive grasp over a simple and musical vocabulary, to bring into being poetic creations which are touched with the free and courageons spirit of the Renaissance. A close contact with Western poetry and with India's greatest living poet, Rabindranath, has unquestionably gone a great way in moulding Vanshidhar's style and thought and metre. Another important feature of our young poet's work is that he has also been handling Persian and Urdu metres with the mastery of originality. But inspite of models and influences Vanshidhar is himself. He is genuine Indian thought and feeling clothed in the delicate and deftly-woven raiments of the rhythms of Renaissance. His poems which strike a new and arresting note have yet a true ancestry of ancient love and longing, and of the very ancient cry. He is able to call up various moods—the mood

of the human lover, the mood of the patriot, the mood of the mystic—and when he paints twilight and stars and the beauty of woods, he does so with the rare genius of one who has mused "in waste and solitary places" and suffered and felt intensely. Now and again we catch a breath of wind blowing "out of the lonely of heart"—who is by temperament, a wanderer, and through the eternal demand of the One among the many, a seeker seeking through innumerable and intricate paths, the goal. In fact he sings in, perhaps, one of his sweetest songs entitled "Further and Further (६१) (आगे आगे)

> "You will have to become a wayfarer,
> You will have to journey on and on—
> Who is ours ? Who is not ?
> Where must we halt ?—Where are we going ?
> Through this strange unintimate world of unknownness, you will have to move onwards and ever onwards—"

This is the intense cry of one who is yearning to discover Himself with the capital H. All true poetry is such a cry. And one who writes such poetry cries in the gorgeous loneliness of mystical quest.

> "Why do you fear to go alone ?
> You did not fear to come alone ?
> You are alone now, you will be alone through all time—but you must go on and on"—

It has, indeed, been a great privilege for me to pen a few lines by way of brief introduction to this book so full of the qualities of beautiful poetry. It is my conviction that Vanshidhar has already attained to a unique place in the Hindi literature of to-day, for he has a message to give, and he has begun to give it in a manner both new and beautiful.

HARINDRANATH CHATTOPADHYAYA.

8th March 1927.

प्रस्तावना

[१]

जिस प्रकार प्राचीन काल के संस्कृत भाषा के नाटकों में इस प्रकार का मङ्गलाचरण किया जाता था कि उस के द्वारा ईश्वर-स्तुति भी हो जाय, और साथ ही नाटक के कथानक का आभास भी मिल जाय, उसी प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में भूमिका लिखने की पद्धति से जहाँ आत्मपरिचिति होती है वहाँ लेखक के विचारों की कुछ छाया भी उसमें दिखलाई पड़ जाती है। आज मैं जिन अपने 'फूलों' को सहृदय पाठकों के आगे भेंट रख रहा हूँ, वे कैसे हैं—इसकी परख तो परखिये माली ही कर सकेंगे! हाँ, यदि इनकी रङ्गत और सुगन्ध से कुछ सहृदयों को भी हार्दिक आह्लाद होगा तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल समझूँगा।

जिस समय विश्वविख्यात कवि डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मुझे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उस समय इनमें से कुछ एक कविताओं को सुन कर उन्होंने इनकी प्रशंसा में जिन आशीर्वाद-मय शब्दों को कहा था वे आज तक भी उसी प्रकार मेरे कानों में गूँज रहे हैं। यह उन्हीं के उत्साहदान का फल है कि मैं आज इस पुस्तक को पाठकों के समक्ष रख रहा हूँ। यह लिखने से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि मैं उपर्युक्त शब्द लिख कर अपनी पुस्तक का कुछ गौरवमाहात्म्य लिखना चाहता हूँ, या किसी भी प्रकार से अपनी पुस्तक की महत्ता को पाठकों की दृष्टि में बढ़ाना चाहता हूँ। इस का लिखने का एक मात्र प्रयोजन यह है कि किसी भी कार्य को परिश्रम से करनेवालों को जब उत्साह मिलता है तो उनकी शक्तियाँ भी कई गुनी बढ़ जाती हैं। विशेष कर कविता का

विषय ही ऐसा है, जहाँ कवि अपनी कविताएँ सुना कर ही अपने को कृतार्थ मानता है और जब उसका हार्दिक स्वागत होता है तो उसके हृदय के आनन्द का पता कवि के निम्न शब्दों से लग सकता है—"सौ बोतलों का नशा है एक वाह वाहमें।"

इसके साथ ही कवीन्द्र रवीन्द्रने हिन्दी साहित्य के विषय में जो कुछ बातें कहीं थीं उन को भी मैं यहाँ प्रयोजनवश लिखता हूँ। हिन्दी कवियों में वे अधिक प्रशंसा बघेलखण्डी कवि ज्ञानदास की करते थे। वे कहते थे कि जब मैंने उस की कविताएँ सुनीं तभी मुझे अनुभव हुआ कि यही तो 'खाँटी जीनिष' (शुद्ध वस्तु) है। पुरानी कविता होने हुए भी उसमें इतना जीवन है कि वह आज की बनी हुई मालूम पड़ती है। इसी प्रसङ्ग में चलते चलते उन्होंने कहा कि कविता में भावों की प्रधानता होनी चाहिये। कविता के शब्दों में वह शक्ति होनी चाहिये कि वे लिखनेवाले के हृदय के भावों को स्वयं कह सकें। जब तक हिन्दी के अन्दर नियमों की विकट जटिलता है तब तक भावों का शुद्ध प्रवाह होना कठिन है। प्राचीन समय में छन्दों की, अलङ्कारों की पूरी पूरी गिनती के साथ हर एक विषय के पूर्ण नियम लिख दिये गये हैं। शृङ्गार का वर्णन करना है तो उस में अमुक अमुक वस्तुओं का ही वर्णन होना चाहिये। नाटक लिखना है तो उस में अमुक वस्तुओं का वर्णन अवश्य होना चाहिये। ऐसे प्रारम्भ करना चाहिये और इस प्रकार समाप्त करना चाहिये। इस का एक परिणाम यह है कि लिखनेवाला बँध बँध कर लिखता है, उस के भावों का पूर्ण विकास उस में नहीं हो पाता।

ये शब्द उन के अँग्रेज़ी शब्दों की भावमय व्याख्या ही हैं। नदी जब पहाड़ों से फूटकर चलती है तो अपने किनारों को स्वयं बना लेती है; किन्तु जब उसी नदी से कोई नहर निकाली जाती है तो पहले पहल किनारों को बाँध लिया जाता है और उस के बाद उस में पानी छोड़ा जाता है। इसी प्रकार हम बँधे बँधाये किनारों में अपनी भावरूपी नहरों को बहा रहे हैं, स्वतंत्र रीति से अपने

भावों की नदियाँ नहीं बहा रहे हैं। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ भावों को शुद्ध स्वतंत्र रीति से प्रकट करने के पक्षपाती हैं; किन्तु यह स्वतंत्रता कितनी दूर तक जासकेगी, इस की पहिचान तो एक मात्र समय ही कर सकेगा।

इस के साथ दूसरे विचारक भी हैं जो पूर्ण नियमों की पाबन्दी को ही पूर्ण उचित समझते हैं। वे कहते हैं कि हमारे प्राचीन गुरुओंने जिन नियमों को घड़ा है, यदि उन का पालन न किया जाय तो इस का यह तात्पर्य है कि हमारी उन पर श्रद्धा ही नहीं है। कई तो यहाँ तक भी कहते हैं कि यदि इन नियमों में बद्ध होकर कविता न लिखी जाय तो वह कविता ही नहीं है। कई विचारकों की यह सम्मति है कि क्या गद्य में कविता नहीं हो सकती? अँग्रेज़ी के बहुत से विचारक ऐसे हैं कि जिन्होंने अपने भावों को गद्य में प्रकाशित किया है और उन्हें पूर्ण कविता कहा जा सकता है। जो व्यक्ति छन्दोमय नियमों का पूर्ण पालन नहीं कर सकते उन्हें आवश्यकता ही क्या है कि वे पद्य में लिखें—वे अपने भावों को गद्य में ही प्रकाशित करें। इन के विचारों में छन्द और तुक ऐसी शान हैं जिन पर चढ़कर कवि के भाव दुगुने चमक उठते हैं, इस लिये इन की अवहेला नहीं करनी चाहिये। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अनुसार जो वाक्य भी रसमय हो, वही कविता है। इस लिये जो पद्य के नियमों का पालन नहीं कर सकते उन्हें अपने विचारों को गद्य में ही प्रकट करना चाहिये और यदि वे अपने विचारों को पद्य में ही प्रकाशित करना चाहते हैं तो उन्हें उस के नियमों का यथाविधि पालन करना चाहिये।

इन विचारकों के विचार को यदि दूसरे तौर पर स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो यह है कि वे समझते हैं कि यदि पद्य के नियमों का परिपालन न हो तो गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जावेगी और इस से दोनों के विशेषत्व का अन्तर नष्ट हो जायगा, जो ठीक नहीं मालूम होता। दोनों के अन्दर अन्तर रहना ही चाहिये। इस के प्रमाण में यह कहा जाता है कि अँग्रेज़ी के विख्यात महाकवि

W. Wordsworth की यह हार्दिक अभिलाषा थी कि गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाय और उन्होंने इस के लिये अत्यन्त परिश्रम भी किया था; किन्तु वह इस में सफल नहीं हुए और उन्हें पद्य में पद्य के नियमों का ही पालन करना पड़ा।

इस के साथ ही हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि स्वतंत्रता के पक्षपातियों का यह मन्तव्य नहीं है कि पद्यों के नियमों का अध्ययन भी न किया जाय और उस का यथाशक्ति पालन न किया जाय; किन्तु उन के कथन का सारांश यह है कि किसी भी प्रकार क्यों न हो लेखकोंको चाहिये कि वे अपने हृद्गत भावों को यथासम्भव अभिव्यक्ति के पूर्ण रूप में प्रकट करें। यदि हमारे पद्य नियमों के पूर्ण ढाँचे में ढले हुए हैं और उन में भावों की अभिव्यक्ति नहीं है, तो वे ऐसे घड़े हुए वर्तन हैं जिन में काव्य का अमृतमय ब्रह्मानन्द-सहोदर रस नहीं है। वे भरे हुए भी ख़ाली हैं। क़विता वही है जो दिल पर सीधी उतरे। एक दिल की गूँज दूसरे दिल में सीधी गूँज जाय। भावप्रधान कविता की विशेषता यह है कि वह लगती दिल पर है, झूमता सिर है और वाह वाह मुँह करता है। शब्द सीमा में बँधे रहते हैं किन्तु भावों का गाम्भीर्य असीम और अगाध होता है। चित्रकार जिस चित्र की रचना करता है उसका पर्यवसान रेखाओं में ही नहीं है; किन्तु वे रेखाएँ यदि किसी भाव को अभिव्यक्त करती हैं तो वहीं जा कर उस के आनन्द की सृष्टि और अन्त होता है। ठीक इसी प्रकार कविता का पर्यवसान पद्य तथा अलङ्कारों के नियमपालन तक नहीं हो जाता, वह तो कवि की भावव्यक्ति के आनन्द की सृष्टि और परिणति पर ही निर्भर करता है। जिस प्रकार एक मामूली मकान में यदि एक आत्माका निवास हो तो वह उस महल की अपेक्षा अधिक सजीव मालूम होता है जिस में कोई भी रहता न हो और वह एकदम खाली हो, उसी प्रकार जिसमें भावरूपी आत्मा का निवास होता है वह कविता उस भावविहीन पद्य से जिस में प्रतिपंक्ति पूर्ण नियमों का पूर्ण शुद्ध रीति से पालन किया गया है, अधिक सजीव मालूम पड़ती है। कविसम्राट् कालिदास ने ठीक कहा है—

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।

वल्कलमात्र परिधान से सुन्दर रूप की आभा द्विगुणित हो जाती है; किन्तु जो रूप सुन्दर नहीं है वह चाहे कितने ही अप-टू-डेट मौडर्न फ़ैशन के सम्पूर्ण अलङ्कार भी क्यों न पहन ले तो भी सुन्दर नहीं प्रतीत होता। यही अवस्था भाव और पद्य के पूर्ण नियम पालने की है। कथन का सारांश यह है कि इस प्रकार के विचारक यह मानते हैं कि भावों की अभिव्यक्ति यथासम्भव पूर्ण होनी चाहिये; यदि वह नियम पालने से हो तो भी ठीक है और यदि नहीं हो सके तो किसी भी प्रकार अपने भावों को ठीक अनुभव के रूप में प्रकट करना चाहिये।

इस प्रकार हमने दोनों प्रकार के विचारकों के विचारों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया है।

[२]

हिन्दी कविता के विषय में या हिन्दी के पद्यसाहित्य के इतिहास के विषय में यदि कभी गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाता है, तो सब समालोचकों का ध्यान एकदम व्रजभाषा के कवियों की ओर आकर्षित हो जाता है।

उन के पद-सौष्ठव, भाषा-माधुरी तथा भावप्रवाह के सम्मुख आज का सब कुछ हमें नहीं के बराबर प्रतीत होता है। इस में सन्देह नहीं है कि गोस्वामीजी की रामायण में और गुरुवर सूरदास के सूरसागर के मधुर पदों में तथा बिहारी के गम्भीर घाव करने वाले सतसैया के छोटे दोहरों में वह जादू भरा हुआ है कि वह रसिकों के हृदय के अन्दर आज भी उस असीम आनन्द को उत्पन्न करता है जिस से अनुभव होता है कि बस आनन्द की चरम सृष्टि हो चुकी, हिन्दी के साहित्य की षोडश कलाओं का पूर्ण अवतार हो चुका, शारदा की वीणा की अन्तिम मधुर झङ्कार गूँज चुकी, हिन्दी साहित्य के आकाश में सूर्य, चन्द्र और तारे ही नहीं उग चुके किन्तु वर्षा के घनान्धकार के क्षणिक प्रकाशक खद्योत

भी हो चुके। पूर्ण परिसमाप्ति हो चुकी, काव्य का मैदान पूरा हो चुका। अब आगे क्या है?

किन्तु क्या काव्य की समाप्ति हो चुकी? क्या सरस्वती ने कमलासन पर बैठ कर अपनी वीणा बजानी छोड़ दी? नये प्रातःकाल के साथ नया आरम्भ हो गया। नये दिन के उदय होते ही सूर्य भी नया हो गया। यह नवीनता युग युगान्तर से चली आती है। जिस दिन भारत के मधुर तपोवनों में वाल्मीकि की रामायण का पाठ हुआ था, उस दिन यह मालूम होता था कि काव्य का यहीं से प्रारम्भ और यहीं समाप्ति हो गई है। बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने प्रबन्धों में लिखा है कि संस्कृत के आदि कवि वाल्मीकि ने अपने काव्य की नायिका सीता का जो चरित्रचित्रण किया है वह आज तक भी उसी प्रकार अङ्कित है जैसा कि महाकवि वाल्मीकिने चित्रित किया था। आज जो बड़े से बड़ा उपन्यास लिखा जाता है जिस में प्रेमका आदर्श चित्र खींचना होता है उस के लेखक क्या करते हैं? उसी प्रातःस्मरणीया सीता के चरित्र की ही झाँकी उस में दिखाते हैं। किन्तु क्या आदर्श प्रेमका चरित्रचित्रण समाप्त हो गया है? वह चल रहा है। नये नये रूपों में नया नया वेश धारण कर के वह साहित्य फिर फिर दृष्टिगोचर होता है। बढ़ते बढ़ते संस्कृत साहित्य में महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ की सृष्टि हुई और फिर

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥'

के रचयिताने वाणी के तीर्थ रघुवंश आदि की सृष्टि की। कालिदास, भवभूति, भारवि अपनी अपनी साहित्यिक रचनाओं में आनन्द की चरम परिणति पर पहुँच चुके। वह साहित्य कितना उदात्त और मधुर है इस के साक्षी रसिकों के हृदय हैं जो इन को वारम्वार पढ़कर भी तृप्त नहीं होते हैं। संस्कृत साहित्य का माधुर्य इतना लोकोत्तर है कि उस की उपमा वह स्वयमेव है।

किन्तु युग का प्रवाह नहीं रुका। व्रजभाषा आ पहुँची और आज कितने ही समालोचक तुलना कर के व्रजभाषा के युग को कितने

ही अंशों में अधिक उन्नत कह रहे हैं। कोई समय था जब कि कवि अपने हृदय के भावों को व्रजभाषा में प्रकट करने में सङ्कोच करते थे, किन्तु आज वह समय है जब कि कितने ही महानुभाव यह कह रहे हैं कि कविता की भाषा तो व्रजभाषा ही होनी चाहिये। वही 'भाखा' आज संस्कृत और अलंकृत होकर सहृदय समाज की सभानेत्री बन गई है। जिस समय एक बीज भूमि में बोया जाता है-यदि उस के फूलों का दर्शन किसी ने न किया हो, तो वह कल्पना-द्वारा यह समझ कर कि यह तो कुछ नहीं है उस की एकमात्र निन्दा करेगा, किन्तु जिस दिन वसन्त के नव प्रभात में धीरे धीरे बहता हुआ वायु उसी की सुगन्धि उस के गवाक्ष मार्ग से उस तक पहुँचाएगा उस दिन वही हृदय जब यह जानेगा कि यह तो वही बीज है जो बहुत समय पानी सींचने के बाद आज इस रूप में फूट उठा है और उस की महक से खिंच कर वहाँ भौरों की भीड़ इकट्ठी हो रही है तो उस के आश्चर्य की सीमा न रहेगी। वही बीज विकसित होकर अपने प्रति सैकड़ों की टकटकी को बँधवा लेता है। उर्दू के कवि अकबर ने क्या ठीक कहा है—

हुआ चमन में हुजूमे बुलबुल किया जो गुलने जमाल पैदा
कमी नहीं, क़द्रदां की अकबर करे तो कोई कमाल पैदा॥"

जिस दिन फूल अपनी सुन्दरता को प्रकट करता है, बुलबुलों की भीड़ स्वयं ही आ जुटती है और जब किसी नूतन वस्तु का आविर्भाव होता है तब उस के गुण गौरव गानेवाले भी पैदा हो जाते हैं। जब महफ़िल में कोई अच्छी बात कहता है तो वाह वाह स्वयं हो जाती है, कहनेवाला चाहिये। जिस दिन व्रजभाषा के अन्दर कविता की जानी प्रारम्भ हुई होगी उस दिन कौन जानता होगा कि इस में सूर, तुलसी और बिहारी पैदा होकर संसार में इस भाषा की ख्याति को अमर कर जायँगे। वह दिन भी आया। कल के गाँव की व्रजबाला अब राजा महाराजाओं की पटरानी बन बैठी—अब उस की सुन्दरता का कहना ही क्या है?

किन्तु समय कभी स्थिर नहीं रहता। नये युग के साथ नये परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं। भाषा किस समय किस प्रकार बदल जाती है, इस की व्याख्या का उत्तर फ़ाइलौलौजिस्ट चाहे भाषा तत्त्व के कितने ही नियम क्यों न बना लें, नहीं दे सकते। चलते हुए भाषा के शब्द किस दिन इस रूप में बोले जाने लगे, इस का पूरा पूरा रिकार्ड रखना बड़ा कठिन कार्य है। जिस समय एक भाषा से दूसरी भाषा का पूर्ण आविर्भाव हो जाता है, उस समय उस का दूसरा नाम पड़ जाता है और उस में साहित्य पैदा होना प्रारम्भ हो जाता है। पहले पहल कुछ महोदय बुरा मानते हैं, उस की निन्दा करते हैं किन्तु धीरे धीरे वह ग्रामीण भाषा सभ्यों की भाषा बन कर राजमहलों में पहुँचती है और वह जब राजकीय पूर्ण अलङ्कार पहन लेती है तब हर एक उस की गुणगरिमा गाने में अपने को कृतार्थ समझता है।

आज की प्रचलित हिन्दी में कितने फेरफार हुए हैं और इसका साहित्य किस प्रगति से किस ओर को बढ़ता हुआ चला जा रहा है, इस का अनुमान करना कठिन है। जैसे एक ऋतु के पश्चात् जब दूसरी ऋतु उपस्थित हो जाती है तब परिवर्तन का बोध तो हो जाता है, किन्तु वह कैसे हुआ, क्यों हुआ, इस की मीमांसा करना कठिन होता है; उसी प्रकार एक भाषा से दूसरी भाषा का परिवर्तन हो गया, यह तो हमें ज्ञान होता है किन्तु यह कैसे हो गया, क्यों हो गया, इसका विचार करना अत्यन्त दुष्कर है। जिन आदतों में मनुष्य पला हुआ हो उन के परिवर्तनों में जिस प्रकार मनुष्य पर्याप्त कष्ट और बुरा अनुभव करता है किन्तु धीरे धीरे सब ठीक होता जाता है—उसी प्रकार भाषाओं के साथ भी मनुष्य का स्वभाव है। निस्सन्देह आज इस खड़ी बोली की हिन्दी कविता में वह माधुर्य और लोच नहीं है जो व्रजभाषा में है, किन्तु अब समय बदल चुका है, अतः व्रजभाषा का हम चाहे कितना ही पक्ष क्यों न करें—खड़ी बोली की कविता चलती ही जायगी। यद्यपि आज हमें यह खड़ी बोली की कविता इतनी सुन्दर नहीं प्रतीत होती और इस की कविता के पढ़ने में हमें आनन्द नहीं

अनुभव होता, किन्तु कोई समय आयेगा जब यह भाषा जो आज हमें अच्छी नहीं मालूम हो रही है सुन्दर प्रतीत होगी और तब इस की प्रतिष्ठा की वृद्धि हो जाएगी। तब महाकवि Lord Tennyson की Begger maid (भिखारिन) की कविता के निम्न शब्द इस पर लागू हो सकेंगे—

" As shines the moon in clouded skies,
She in her poor attire was seen:
One praised her ankels, One her eyes,
One her dark hair, and lovesome mien:
So sweet a face, such angel grace,
In all that land had never been:
Cophetua swore a royal oath;
This begger maid shall be my queen."

जैसे मेघाच्छादित आकाशमें चन्द्रमा चमकता है वैसे ही वह अपने फटे मैले कपड़ों में दिखलाई देती है। कोई उसकी एड़ियों की, कोई उस की आँखों की, कोई उस के काले बालों की और कोई उस की मधुर चाल की प्रशंसा करता है। उस भूमि में ऐसा सुन्दर चेहरा और ऐसी दिव्य कान्ति कभी उत्पन्न नहीं हुई। कौफिटुआ ने यह राजकीय प्रतिज्ञा की कि यह भिखारिन मेरी रानी होगी।

किसी समय इस खड़ी बोली की कविता का भी राजमहिषी बनने का दिन आएगा। इस समय तो इस का साधना-युग है। जब इस साधना के अन्दर कुछ शक्ति पैदा होगी, तो इस भाषा में भी अवश्य सुन्दर रचनाएँ होंगी। खड़ी बोली के हिन्दी साहित्य के वसन्त के आने में बहुत देर है। जो भौंरे खिलते हुए कमल के रस का आनन्द अनुभव कर चुके हैं, उन्हें अभी भला कुटज फूल में कहाँ से वह आनन्द आये?

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत,
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा ! मधुकरेण कथम् ॥

फिर भी वह समय आएगा जब हिन्दी साहित्य की पुष्पलता विकसित हो उठेगी और तब भौंरों की भीड़ भी इकट्ठी हो जाएगी।

अभी तो ऐसे मालियों की आवश्यकता है जो अच्छी तरह अपना समय तथा शक्ति लगा कर इस बीज को सींचें। यदि हमारी साधना पूर्ण नहीं होगी तो उस समय के आने में और भी देरी होगी। जितनी तपस्या कठोर होगी—फल भी उतना ही शीघ्र प्राप्त होगा।

एक बात और भी है। जिस समय ब्रजभाषा के साहित्य का अभ्युदय हुआ था उस समय उस के सन्मुख बहुत कर के संस्कृत भाषा का और कुछ अन्य भाषाओंका साहित्य था; किन्तु इस समय इस विज्ञान युगमें हर देश की भाषाओं के विकसित साहित्य सामने आकर उपस्थित हो गये हैं। सब साहित्यों में अपनी अपनी नवीनताएँ हैं। इस समय संसार के अन्दर वही साहित्य उन्नत और आदर्श समझा जाएगा, जिसके अन्दर विश्व के साहित्य की संस्कृति अङ्कुरित होगी। यदि हम इस समय की संसार की बड़ी बड़ी भाषाओं की उपेक्षा कर के यह समझें कि हम अपनी भाषा में किसी विशाल साहित्य की सृष्टि कर सकेंगे तो यह बात अत्यन्त दुष्कर सी है। यदि हम यह समझ कर बैठ जाँय कि जितनी अच्छी से अच्छी वस्तुएँ हैं वे हमारे ही साहित्य में हैं और दूसरी भाषाओं के साहित्य में न तो कोई नवीनता है और न हमारे लिये उस में कुछ उपादेय है, तो यह हमारी निरी कूपमण्डूकता होगी और हमारी इस प्रकार की मानसिक वृत्ति हमारी उन्नति में एक बड़ी भारी रुकावट सिद्ध होगी। हमें अपना दिल खोल कर जिस किसी भी भाषा में हमें जितने हीरे मिलें उनका उज्ज्वल संग्रह कर के, उन्हें अपना कर, अपने साहित्य की समृद्धि और श्रीवृद्धि करनी चाहिये। हमें उस गुलाब को फ़ारस से लाने में कुछ भी सङ्कोच नहीं करना चाहिये जो हमारी भूमि में उग कर हमें वैसी ही सुगन्ध और आनन्द दे सकता है।

हम तो उस दिन की प्रतीक्षा में हैं, जब आज की हिन्दी साहित्य की कविता अपने अन्दर, संसार की वर्तमान भाषाओं की सब अच्छी संस्कृतियाँ अपना कर एक नवीनता को पैदा कर लेगी।

अभी इस की ओर न तो हमारा ध्यान ही पूर्ण रूप से आकर्षित हुआ है और न विशेष उद्योग ही प्रारम्भ हुआ है। हिन्दी साहित्य के गद्य में तो इस का प्रवेश हो चुका है और इस लिये उसकी प्रगति तो हो रही है; परन्तु अभी कविता में इस तरह की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। यदि बङ्ग भाषा के साहित्य की उन्नति दिन दूनी रात चौगुनी हो रही है तो इसका मुख्य कारण यह है कि बङ्ग भाषा के लेखकों ने संसार की वर्तमान अच्छी भाषाओं की संस्कृति को अपना कर उसमें नवीनता को पैदा कर लिया है। इसी लिये उस भाषा की प्रतिष्ठा वृद्धि होती चली जा रही है। यदि हम हिन्दी भाषा के अन्दर भी इस तरह का उद्योग करेंगे तो हमारी भाषा की भी निस्सन्देह उन्नति होगी। भगवान् करें वह दिन शीघ्र आये जब हमारी इस भाषा के उद्यान में इस तरह के फूल विकसित हों जिन की सुगन्ध से सारा विश्व सुगन्धित हो जाय। यहाँ पर यह कह देना और आवश्यक है कि दूसरे साहित्य के अनुपम रत्नों को अपना बनाने में तथा दूसरे साहित्य के एक मात्र अनुकरण करने में बड़ा अन्तर है। एक मात्र अनुकरण करने से प्रायः बुराइयों का ही समावेश हो जाता है। जिस प्रकार हलकी वस्तुएँ पानी की ऊपरी तह पर तैरती हैं किन्तु जितने भी मूल्यवान् पदार्थ हैं वे पानी की अगाध गहराई में होते हैं, उसी प्रकार साहित्य के मोतियों की समस्या है। अनुकरण करने में प्रायः ऊपरी तल की वस्तुएँ ही अधिकतर आतीं हैं, इस से हमारे साहित्य के अन्दर बहुत से अनिवार्य दोषों के प्रवेश कर जाने की सम्भावना है। हमें बहुत सावधान होकर, बहुत विचार कर के, अच्छी तरह परीक्षा कर के दूसरी भाषा के रत्नों को खोजना चाहिये और फिर उन्हें अपने साहित्य में लेना चाहिये। इस में बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। ऊपर हमने हिन्दी साहित्य के इस युग को साधना युग के नाम से लिखा है। इस समय हिन्दी साहित्य के लेखकों का कर्तव्य है कि वे धन और ख्याति की इच्छा न कर के अपनी साधना में विशेष तत्परता के साथ लग जाँय। इसी से हमारी उन्नति शीघ्र हो सकेगी।

[३]

जो कविताएँ पाठकों के समक्ष रक्खी जा रही हैं, उन में से बहुत सी कविताओं को बनाये पर्याप्त समय हो चुका है। इन में से कुछ कविताएँ प्रभा, माधुरी तथा अलङ्कार आदि मासिक पत्रों में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। ये सारी कविताएँ किसी एक ही स्थानपर बैठकर नहीं लिखी गई हैं। इस पुस्तक में इन कविताओं को चार विभागों में बाँटा गया है। ईश्वरभक्ति की कविताओं को 'अर्पण' शीर्षक कर के लिखा गया है। प्रकृति के दृश्यों की कविताएँ 'प्राकृतिक सौन्दर्य' शीर्षक में लिखी गई ह। इसी प्रकार प्रेम की कविताएँ 'यौवनोन्मेष' तथा अन्य कविताएँ 'विविध' इस शीर्षक में हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत सी कविताएँ कश्मीर और क्वेटा में लिखी गई हैं। अभी इन के प्रकाशित करने में और भी विलम्ब होता; क्यों कि मेरा विचार था कि अपने संग्रह को कुछ बड़े रूप में प्रकाशित करूँ, किन्तु पीछे से ऐसा विचार हुआ कि जो आख्यायिकाओं की लम्बी कविताएँ हों उन्हें दूसरी पुस्तक में प्रकाशित किया जाय। इस विचार से इन रचनाओं को अभी प्रकाशित कर दिया गया है। यदि इन रचनाओं का सहृदय समाज में कुछ भी आदर होगा तो मैं अन्य कुछ भेंटें भी सेवा में उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा।

हिन्दी कविता प्रायः तुकप्रधान ही लिखी जाती है। कुछ समय से अमित्राक्षरों की कविता (Blank verse) भी हिन्दी में लिखी जाने लगी है। इस में कुछ सन्देह नहीं है कि तुकवाली कविता का अपना सौन्दर्य होता है; किन्तु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि अमित्राक्षरों की कविता में भी सुन्दरता होती है। संसार की विख्यात भाषाओं में प्रायः जितनी उदात्त कविताएँ लिखी गई हैं, वे बहुत करके अमित्राक्षरों में हैं। अमित्राक्षरों की कविता का यह तात्पर्य नहीं है कि उनका कोई छन्द भी नहीं होता। इस समय कुछ ऐसे पद्यसाहित्य की भी सृष्टि हो रही है जो जहाँ तुकविहीन है वहाँ छन्दोविहीन भी है। हम ने अपनी दो तीन तुकविहीन रचनाएँ भी इस पुस्तक में लिखीं हैं, किन्तु वे छन्द-

रहित नहीं हैं–उनमें १६ मात्राके छन्द का या अन्य किसी छन्द का प्रयोग किया गया है।

हमारी दृष्टि में तुक चार प्रकार की है। अपनी बात को कुछ स्पष्टतया कहने के लिये हम ने इन के नाम रख लिये हैं। पहली है पूर्ण तुक–जैसे कमल और अमल। इस तुक में ऊपर से नीचे की तुक में बहुत ही स्वल्प अन्तर होता है। दूसरी है अपूर्ण तुक–जैसे धवल और विमल। तीसरी है मात्रान्त-तुक–जैसे कहे–देखे। यहाँ एकमात्र मात्रा में ही तुक है। इस प्रकार की तुक का प्रयोग उर्दू भाषा में तो बहुत होता है। जैसे महाकवि हाली की निम्न कविता में देखा जा सकता है—

यही हाल दुनिया में उस क़ौम का है,
भँवर में जहाज़ आके जिसका घिरा है।
किनारा है दूर और तूफ़ाँ बपा है,
गुमाँ है ये हरदम कि अब डूबता है।
नहीं लेते करवट मगर अहले किश्ती,
पड़े सोते हैं बेख़बर अहले किश्ती॥

यहाँ प्रथम चार पंक्तियों में जो तुक मिली हुई है वह एक मात्र मात्रान्त है। हम नहीं जानते कि इसे उर्दू में क्या कहते हैं। हम ने तो ये सब नाम अपने भावों को स्पष्ट तौर पर समझाने के लिये रख लिये हैं। हमने अपनी रचनाओं में जहाँ आवश्यकता हुई है इस मात्रान्त तुक का प्रयोग किया है। इस के साथ ही साथ हमारी यह धारणा है कि तुकवाली कविता के साहित्य में महाकवियों के ग्रन्थ पढ़ने से एक अन्य प्रकार की भी तुक दिखलाई पड़ती है। इस का नाम हम तुकाभास रखते हैं। इस में इन उपर्युक्त तुकों के नियमों का पालन नहीं होता, किन्तु कुछ न कुछ सदृशता रहती है, कुछ न कुछ ऊपर के वर्ण मात्राओं का नीचे की वर्ण मात्राओं के साथ मिलने का आभास सा होता है। हो सकता है कि हमारे ये विचार ठीक न हों किन्तु जैसा कुछ हमारे

अनुभव में आया है वह यही है। इस प्रकार के उदाहरण पुरातन हिन्दी साहित्य में से दिये जा सकते हैं। उर्दू की कविता में तो ऐसे उदाहरण बहुत हैं। नमूने के तौरपर यहाँ हाली का यह पद्य लिखा जाता है—

गड़रिये का वह हुक्मबरदार कुत्ता,
जो भेड़ों की हरदम है रखवाल रखता।"

यहाँ ऊपर की पँक्ति में भी 'ता' है और निचली पँक्ति में भी 'ता' है, और उस के अगले वर्ण की मात्रा ऊपर की 'ऊ' है और नीचे का 'अ' है। तुक ठीक देखनेवाले आलोचक इस को अशुद्ध कहेंगे किन्तु इस प्रकार के उदाहरण अन्य कई कवियों के काव्योंमें से भी दिखाए जा सकते हैं। अपने भावों की यथासम्भव रक्षा के लिये इस प्रकार के तुकाभास के प्रयोग प्रायः बाधित हो कर ही करने पड़ते हैं, इसी लिये हमने इस चतुर्थ तुक का भी निर्देश किया है। हम फिर यहाँ यह स्पष्ट दुहराना चाहते हैं कि तुकों की नियमावली के अनुसार यह चतुर्थ तुक ठीक नहीं है; फिर भी जिस प्रकार एक शब्द व्याकरण के नियमों के अनुसार ठीक न होता हुआ भी व्यवहृत होता है और उसका प्रयोग चल पड़ता है, उसी प्रकार इस तुक के विषय में भी है। यह तुक के नियमों के अनुसार ठीक नहीं है किन्तु इस तरह के प्रयोग भी कुछ न कुछ होते हैं, इस लिये हमने इस तरह की तुक का यहाँ वर्णन किया है। इस प्रकार के बहुत थोड़े से प्रयोग हमारी रचनाओंमें भी मिलेंगे। हो सकता है कि पूर्णतुकनियम-प्रेमी महानुभावोंका इन से परितोष न हो किन्तु जिस समय रचना करने वाला भाव को कुछ सुरक्षित रीति से प्रकट करने की दुविधा में पड़ जाता है, उस समय किया भी क्या जाय? एक ओर भावों को अपनी चुलबुली होती है और दूसरी ओर तुक के नियमों की तलवार लिये पूर्णतुकनियमप्रेमी आलोचक दृष्टिगोचर होते हैं। हम अपने इन महानुभावों को अपनी ओर से यह विश्वास दिलाते हैं कि इस प्रकार के जो कुछ भी थोड़े से स्थल हैं वे केवल भाव-

रक्षा निमित्त ही हैं और क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग अन्य कवियों ने भी किये हैं अतएव हमने इन को लिखने में संकोच नहीं किया है।

इसी प्रकार हिन्दी कविताओं में कुछ इस प्रकार के उच्चारण भी हैं जो लिखने में तो पूरे लिखे जाते हैं किन्तु बोलने के समय छन्द के अनुसार उन्हें ह्रस्वादि पढ़ लिया जाता है। इस तरह के प्रयोग उर्दू कविताओं में तो बहुत करके होते हैं। हमारे प्राचीन हिन्दी के पद्यों में भी ढूँढ़ने पर इस प्रकार की रचनाएँ मिल सकती हैं जिनमें इस प्रकार के उच्चारण मिल जाँय। इस प्रकार के उच्चारण आज कल की खड़ी बोली की कविताओं में भी पाये जा सकते हैं, किन्तु यह भी ठीक है कि कुछ लेखक इस प्रकार के प्रयोगों को ठीक नहीं समझते हैं और इसी लिये हमें इस बात की चर्चा यहाँ करनी पड़ी है। हमारी इन रचनाओं में इस प्रकार के अत्यन्त अल्प प्रयोग जहाँ भी मिलेंगे वहाँ उन्हीं छन्दों में पाये जाएँगे जो उर्दू के छन्दों से मिलते जुलते हैं या जहाँ उन ही छन्दों को उपयोग में लाया गया है। हो सकता है कि यह ठीक न हो, तो भी हमारी तुच्छ सम्मति में जब इस प्रकार का प्रयोग चालू हो चुका है तो उसे चालू रहने देना चाहिये। भाव जितनी सुगमता से प्रकट किये जाएँगे उतनी ही सुगमता से समझमें भी आयँगे।

इतना लिखने के पश्चात् मैं इस पुस्तक को सहृदयों के सामने रखता हूँ। सब से पूर्व गुरुकुल काङ्गड़ी के भूतपूर्व संस्कृत साहित्य के उपाध्याय पण्डित बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता को प्रकट करता हूँ, जिनके विषय में महा कवि हाली के निम्न शब्द यों कहे जा सकते हैं "जिनके है बात बात में एक बात"। उन्होंने ही मेरी प्रवृत्तियों को इस ओर प्रेरित किया है। साथ ही कई अन्य पूर्वीय और पाश्चात्य कवियों की छाप भी मेरे दिलपर पड़ी है, किन्तु अभी उन के उल्लेख का समय नहीं आया। इस के साथ ही मैं उन सहृदय विद्वानों का कृतज्ञ हूँ जो मेरी कृतियों को अपना अमूल्य समय देकर सुनते रहे हैं और मेरा उत्साह

बढ़ाते रहे हैं। मैं कविवर श्रीयुत हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्यायजीका बहुत आभारी हूँ जिन्होंने कृपा कर के इस पुस्तक के प्रारम्भ में कुछ शब्द लिखे हैं। आप भारतकोकिल श्रीमती सरोजनी नायडू के सहोदर भाई हैं। आप अँग्रेज़ीमें उच्च कोटि की कविता करते हैं, साथ ही हिन्दी के प्रति इतना प्रेम रखते हैं कि आपने हिन्दी में भी उत्तम उत्तम कविताएँ लिखनी प्रारम्भ करदी हैं। इस समय मैं अपने प्रिय मित्रवर श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्रजी मिश्र को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जो मेरी रचनाओं को पढ़कर और उन की गम्भीर समालोचनायें लिख कर मेरे पास भेजने की कृपा करते रहे हैं।

अन्त में मैं हिन्दीग्रन्थरत्नाकर के मालिक, अपनी सीरीज़ में सुन्दर और स्थिर साहित्य प्रकाशित करने के प्रेमी, सरलस्वभाव श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को अपनी ग्रन्थमाला में प्रकाशित कर मुझे अनुगृहीत किया है।

मैथ्यू कौटेज
चौपाटी, बम्बई।
शिवरात्रि,
मा० कृ० १४, १९८३

विनीत
वंशीधर विद्यालङ्कार।

टिप्पणी—कविवर रवीन्द्रनाथ का 'मरमिया' नामक लेख जो प्रवासी (भाग २५, खण्ड १, संख्या ५) में प्रकाशित हुआ है—उस के नीचे लिखे अंश पर हम हिन्दी पाठकोंका ध्यान आकर्षित करते हैं:—

" जिस समय मैं (अपने लिए) अपरिचित हिन्दी साहित्य-भंडारमें से विशुद्ध रस रूपकी खोज कर रहा था, उस समय एक दिन श्री क्षितिमोहन सेन महाशय के मुख से बघेलखण्डी कवि ज्ञानदास के दो एक पद मैंने सुने। मैं कह उठा, यही तो है—पा गया। असली चीज़, बिलकुल अन्तिम वस्तु, इस पर कोई अलंकार शोभा नहीं पा सकता। + + "

—प्रकाशक।

ओ३म्

मेरे फूल

परखिया माली !
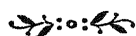
(१)

तेरे हाथ न कर दूँ चञ्चल,
बना न दूँ तेरा दिल पागल।
घण्टों करके खड़ा पास में,
करूँ न तेरी पलकें निश्चल॥

(२)

झूम झूम कर तेरे अन्दर,
सकूँ न अपनी रङ्गत को भर ।
पहुँचूँ नहीं सदा बन माला,
तेरे प्रियतम की छाती पर ॥

(३)

'फूल' नाम रख मेरा माली !
फिर न कलंङ्कित कर यह डाली ।
खिलना व्यर्थ बाग़में उनका,
जो शोभा सुगन्ध से ख़ाली ॥

अर्पण

—:०:—

बेहद तारे एक गगन में जैसे झिलमिल करते हैं,
फूल असंख्य जिस तरह मिलकर एक भूमिपर खिलते हैं।
इस निस्सीम विश्व में वैसे ही मनुष्यता फूलेगी,
तरस रहीं हैं आँखें किस दिन मधुर दृश्य यह देखेंगी ॥

—पृ० सं० १७.

अनन्त-व्यथा

(१)

कब अनन्त आँखों से तेरा,
हे ! अनन्त ! दर्शन होगा ?,
कब अनन्त जिह्वाओं से प्रभु !
तेरा गुणकीर्तन होगा ?

कब अनन्त कानों से मधुमय,
तेरा नाम श्रवण होगा ? ,
कब अनन्त बाँहों से दर
तेरा आलिङ्गन होगा ?

तुझ असीम में सीमाएँ सब, कब जाएँगी टूट ?
बेहद दुख अनन्त होने का, कब जाएगा छूट ?

आशा में निराशा

(१)

बरस रही थी इन नयनों से, अविरल जल की धार,
मैं बैठा था मंत्र मुग्ध हो, खोल हृदय का द्वार ।
अन्तरिक्ष में झिलमिल करते, तारों से भगवान्,
उतरेंगे, मैं झूम रहा था, फूट रहे थे गान ॥

(२)

भूल गया जब सुध न रही कुछ, तुम आये चुपचाप,
इस आशा की बेहोशी में, बस हो गया मिलाप ।
पर सुख की वह नींद न टूटी, मेरी बुझी न प्यास,
आशा पूरी हुई किन्तु मैं, हा ! हो गया निराश ॥

ꕥ ꕥ ꕥ

कब ?

-:०:-

प्यासी अँखियाँ तरस रही हैं, प्रभु ! कब दर्शन दोगे ?

(१)

अन्धकारमय इस रजनी में,
बैठी तुमको सोच रही मैं ।
दिखला कर झाँकी कब अपनी, पूरी साध करोगे ?
प्यासी अँखियाँ०

(२)

विरहाकुल यह चित अति चञ्चल,
दर्द बढ़ाता दुगुना पल पल ।
कब इस मन्दिर में पधार कर, मेरी पीर हरोगे ?
प्यासी अँखियाँ०

(३)

सब इच्छाओं को पूरा कर,
जीवन मेरा सफल बना कर ।
कब इस अधमा दीना को तुम, चरणों में रख लोगे ?
प्यासी अँखियाँ०

तेरा भिखारी

(१)

महलों से लेकर छप्पर तक,
नीचे से लेकर ऊपर तक।
क्या फूलों में क्या काँटों में,
घोर तिमिर में या तारों में।
इस दुनियाँ में क्या है मेरा,
सब कुछ तेरा, सब कुछ तेरा।
मैं हूँ एक भिखारी तेरा॥

(२)

जो देता है ले लेता है,
और किसी को दे देता है।
सब कुछ वैसा ही रहता है,
नहीं ख़ज़ाना ये घटता है।
कहूँ किसे फिर यह है मेरा,
सब कुछ तेरा, सब कुछ तेरा।
मैं हूँ एक भिखारी तेरा॥

(३)

अपने सारे साथी सङ्गी,
वसुधा जिन से प्यारी लगती।

उन की स्मृति भी मिट जाती है ।
अन्त शून्य में मिल जाती है ।
मोह बँधे कह देते मेरा,
सब कुछ तेरा, सब कुछ तेरा ।
मैं हूँ एक भिखारी तेरा ॥

(४)

ख़ाली आये ख़ाली जाते,
जैसे थे वैसे ही जाते ।
जब आते ऐसे ही जाते,
लेकर साथ न कुछ भी जाते ।
क्या है मेरा, क्या है मेरा,
सब कुछ तेरा, सब कुछ तेरा ।
मैं हूँ एक भिखारी तेरा ॥

तेरी भीख

(१)

द्वार द्वार मैं तुझे माँगता, फिरता हूँ निज हाथ पसार,
कोई देगा क्या प्रभु प्यारा, मुझ को मेरा जीवनसार।
पूजा-घर में रल मिल तेरे, गीत जहाँ गाते भाई,
धन दौलत की भीख मिली, पर तेरी भीख नहीं पाई॥

(२)

रोटी पैसा बटोरते हैं, नाम तुम्हारा ले ले कर,
कई पुजारी, कई भिखारी, औरों के जा जा कर घर।
नाम तुम्हारा मिल जावे यदि, है क्या जग का राज्य अखिल,
अपना सब सर्वस्व सौंपकर, भीख तुम्हारी जाये मिल॥

निद्रा में चैतन्य

(१)

जब तेरी आनन्द-सुधा में, मैं अपने को भूल गया,
दिव्य तेज से नयन जग उठे, प्रिय का दर्शन लाभ हुआ।
हृदय कमल खिल उठा गगन में, झनक उठे वीणा के तार,
बरस पड़ी सावन भादों की, झड़ियों-सी मीठी रसधार ॥

(२)

उस अनन्त की सुखमय निद्रा, में मुझ को चैतन्य हुआ,
लीन हुआ मैं चूर हुआ, सब अन्धकार विच्छिन्न हुआ ।
इस माया के इन्द्रजाल से, जग-माया के जाल कटे,
रहा एक आनन्द, दुःख के, पर्दे सारे दूर हटे ॥

पुकार

—०—

मेरे दिल के राजा
इस अन्धेरी दीन कुटी में अपनी जोत जगा जा ॥

(१)

लेते नाम, बहे नयनों से, प्रेमभरी जलधारा,
'चहुँ दिस' देखूँ राह तुम्हारी एक बार तो आ जा ॥
मेरे दिल के०

(२)

नील गगन में, अवनि सिन्धु में गूँजे तान तुम्हारी,
इस बेसुर मुरली पर अपनी 'इक' तो तान चढ़ा जा ॥
मेरे दिल के०

(३)

उठें उमङ्गें चाहभरी नित करें मुझे मतवारा,
प्यारे! पल पल की 'तड़पन' को कुछ तो आन बुझा जा ॥
मेरे दिल के०

(४)

उजड़ चुकी है सुन्दर मेरी माता की फुलवारी,
अमृतमय जल करुणास्यन्दित बरसा जा, सरसा जा ॥
मेरे दिल के०

क्यों नहीं ?

(१)

प्रभो ! तू याद आता क्यों नहीं है,
मुझे अपना बनाता क्यों नहीं है ॥

(२)

तुम्हारी ज्योति जागे सब जगत् में,
दिया मेरा जगाता क्यों नहीं है ॥

(३)

तेरी फुलवारियाँ फूलीं महकतीं,
ये सूखा सर खिलाता क्यों नहीं है ॥

(४)

बना है हर जगह तेरा बसेरा,
ये उजड़ा घर बसाता क्यों नहीं है ॥

(५)

मैं व्याकुल हो निहारूँ राह तेरी,
तू अपने को दिखाता क्यों नहीं है ॥

(६)

समाया है सभी आशाओं में तू,
मेरे दिल में समाता क्यों नहीं है ॥

(७)

मैं प्यासा हूँ तुझे बैठा पुकारूँ,
सुधा अपनी पिलाता क्यों नहीं है ॥

(८)

तुझे चिन्ता है जगदीश्वर ! सभी की,
मेरा फिर ध्यान लाता क्यों नहीं है ॥

(९)

तेरी सुर तान से गूँजें दिशायें,
ये 'वंशी' फिर बजाता क्यों नहीं है ॥

दुःख का साथी

(१)

दुःख निशा आई जब सारे, जगने मुझ को छोड़ दिया,
मेरे साथी, सङ्गी, सब ने, अपना मुँह था मोड़ लिया।
आँसू गर्म आह से था, इस दिल पर पर्दा पड़ा हुआ,
ऐसे समय कोई झट आकर, मेरे द्वारे खड़ा हुआ॥

(२)

जा जा देख लिया जग सारा, है केवल सुख का साथी,
क्या हँसने आया है मुझ पर, कौन यहाँ दुख का नाती ?।
नमक न डाल और बस मुझ पर, इतना ही था कह पाया,
पर्दा उठा और वह मेरे; घर के अन्दर घुस आया॥

(३)

आते ही निज बाहुपाश से, उसने मुझ को बाँध दिया,
मैंने कहा—कौन तू, तो यह, अश्रुभरा मुख चूम लिया।
आश्वासन देकर फिर उसने, कहा न अब तुम करो विषाद,
मैं हूँ जिसे भुलाकर सुख में, दुख में सब करते हैं याद॥

विनय

-:०:-

(१)

खेल हुआ तेरा प्रभो ! फँसे हाय हम आन,
ज्यों देखें तव ओर को, दीखे एक जहान ॥

(२)

तेरे में हम एक थे, अब हैं हुए अनेक,
उलझ तमोमय जाल में, भूले अपनी टेक ॥

(३)

स्वप्नसदृश वह हो गया, शुद्ध, निरञ्जन, रूप,
मायाचक्कर में हुए, माया के अनुरूप ॥

(४)

निर्गुण गुणमय हो गया, प्रकृतिदेवि के सङ्ग,
सत्स्वरूप पर चढ़ गया, पूर्ण असत् का रङ्ग ॥

(५)

बहुत हुई, इस खेल को, नाथ ! कीजिये बन्द,
मिल कर कैसा होयगा, अहो ! अमित आनन्द ॥

(६)

काटो मायापाश यह, दूर करो अज्ञान,
जिस से अपने रूप को, लें अब हम पहचान ॥

(७)

तू है तेरा रूप यह, नहीं यहाँ कुछ भेद,
इस असीम आनन्द में, फिर क्यों होगा खेद ॥

समानता का स्वप्न

(१)

हे ! करुणामय ! मधुर स्वप्न यह, क्या न कभी पूरा होगा,
जब अनन्त मानव समाज मिल, आपस में कहता होगा—।
हैं हम सारे भाई भाई, एक पिता की हैं सन्तान,
कोई छोटा बड़ा नहीं है, सब के हैं अधिकार समान।

(२)

द्विगुणित होगी शोभा उस दिन, इस सारे भूमण्डल की,
जागेगी मनुष्यता जिस दिन, शक्ति घटेगी पशुबल की।
नाच उठेंगी अखिल दिशाएँ, होगा अन्ध निशा का नाश,
नये रङ्ग में रञ्जित होगा, यह विस्तृत नीरव आकाश ॥

(३)

भेदभाव उत्पन्न न होगा, इन पर्वत सरिताओं से,
हृदय कभी सङ्कीर्ण न होगा, जात पाँत के भावों से।
धनी ग़रीब भूलकर सब का, जब होगा व्यवहार समान,
गूँज उठेगा तब वसुधा पर, पूर्ण अनन्त प्रेम का गान ॥

(४)

बेहद तारे एक गगन में, जैसे झिलमिल करते हैं,
फूल असंख्य जिस तरह मिल कर, एक भूमि पर खिलते हैं।
इस निस्सीम विश्व में वैसे, ही मनुष्यता फूलेगी,
तरस रही हैं आँखें किस दिन, मधुर दृश्य यह देखेंगी ॥

तेरी नीरवता

(१)

जग की कितनी भाषाओं में, तेरी नीरव वाणी,
बहती है, गम्भीर हृदय से जिन्हें बोलते ज्ञानी ।
फिर भी तेरी यह नीरवता, नहीं टूटने पाती,
इन असंख्य शब्दों से भी वह, अधिक और बढ़ जाती ॥

(२)

घोर अमावस की रातों में, जब जगते हैं तारे,
तेरी नीरव वाणी गूँजे, भूमण्डल में सारे ।
एक ओर नीरवता तेरी, एक ओर भाषाएँ,
तेरी अकथ कहानी कहकर, इसका अन्त न पाएँ ॥

प्राकृतिक सौन्दर्य

जिधर देख लो दृश्य कोई निराला,
नज़र आता मन को न जाता सँभाला।
सभी ओर रङ्गों का जाला तना है,
यहाँ पत्ता पत्ता नज़ारा बना है॥

—पृ० सं० २७

प्रकाश की प्रतीक्षा
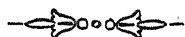
(१)

खड़ा हुआ हूँ पूर्वदिशा में, व्याकुल दृष्टि उठाये,
कब प्रकाश की किरणों से यह, जग जगमग हो जाये ॥

(२)

दूर दिगन्त भरे लाली से, नव सुषमा विकसाये,
नदी तटों की चमके रेखा, लहर लहर मचलाये ॥

(३)

पत्ता पत्ता हिल हिल नाचे, पक्षी पक्षी गाये,
एक अपूर्व हर्ष से सारा, भूमण्डल भर जाये ॥

(४)

अन्धकारमय काला पर्दा, फटे दूर हो जाये,
नये रूप में, नये रङ्ग में, दिशा दिशा मुसकाये ॥

(५)

विस्तृत नील गगन, धरती मिल, अपना रूप दिखाये,
देख देख कर जिस को सीमित, मन असीम हो जाये ॥

नदी का सन्देश

मैंने छोड़ दिया घर बार
पिय मिलने की आश लगाई, तोड़ा सुख का तार ॥

(१)

विकट, अगम पर्वत क्या रोकें, मेरे पिय का द्वार,
राह बनाती चलती जाती, यह छोटी सी धार ॥

(२)

उठें लहरियाँ टकरा कर के, बने फेन-फव्वार,
अन्तरिक्ष में गूँजे मेरा, प्रेमभरा उद्गार ॥

(३)

दोनों तट हरियाली छाये, बहे सुमन्द बयार,
घन नभ छायें, पपिहा बोलें, उमड़ पड़े मल्हार ॥

(४)

तापस योगासन में बैठे, तज कर यह संसार,
गीत मनोहर गाते प्रभु के, सब कुछ दिया बिसार ॥

(५)

ऊपर नीचे सभी जगह में, सुख से करूँ विहार,
मुझको टिकना कहीं न पलभर, कैसी होंय बहार ॥

(६)

रवि किरणों से रङ्ग बिरङ्गा, जब छोड़ा आगार,
अब तो सोना उस अनन्त में, जाकर पैर पसार ॥

फूलों की बहार
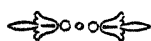
(१)

मैं हूँ बटोही दूर से आया,
किसी जगह आराम न पाया।
मुँह जो इधर आ मैंने उठाया,
प्रभु ने कैसा दृश्य दिखाया।
तेरे बग़ीचे में बैठूँगा,
और बहारों को देखूँगा॥
दरवाज़े को खोल दे माली!
मुझे बुलाती डाली डाली॥

(२)

फूल वसन्ती फूल रहे हैं,
धीमे धीमे झूल रहे हैं।
बाग़ की आँखें बाग़ के तारे,
हर्ष के फूटे हुए फवारे।
रङ्गत इन की मैं देखूँगा,
तेरे बग़ीचे में बैठूँगा।
दरवाज़े को खोल दे माली!
मुझे बुलाती डाली डाली॥

(३)

क्या हरियाली छाई हुई है,
एक से रङ्गत एक नई है।
क्या सुषमा से सजी मही है,
स्वर्ग यही है—स्वर्ग यही है।
मस्त हुआ यह मैं गाऊँगा,
तेरे बग़ीचे में बैठूँगा।
दरवाज़े को खोल दे माली,
मुझे बुलाती डाली डाली॥

(४)

पास से इन के लोग हैं जाते,
इधर नहीं पर आँख उठाते।
काम में अपने भूले हुए हैं,
इन्हें पता क्या फूल खिले हैं?।

इन से निठल्ला मैं खेलूँगा,
तेरे बग़ीचे में बैठूँगा ।
दरवाज़े को खोल दे माली,
मुझे बुलाती डाली डाली ॥

(५)

देख इन्हें दिल भर जाता है,
जाने क्या क्या कह जाता है ।
किस प्यारे की याद दिलाकर,
मुझे बुलाते हैं अपनाकर ।
इन में दुख अपना भूलूँगा,
तेरे बग़ीचे में बैठूँगा ।
दरवाज़े को खोल दे माली !
मुझे बुलाती डाली डाली ॥

(६)

हँस हँस कर ये मर जायेंगे,
खिल खिल कर ये झड़ जायेंगे ।
कैसा जीना कैसा मरना,
जब तक रहना हँसते रहना ।
हँसना इन से मैं सीखूँगा,
तेरे बग़ीचे में बैठूँगा ।
दरवाज़े को खोल दे माली !
मुझे बुलाती डाली डाली ॥

प्रकृति का पर्दा

(१)

पवन के झकोरों से डालें हिलीं हैं,
हुआ दूर तम, सब दिशायें खिलीं हैं।
हुए मस्त ख़ुशियों में पञ्छी हैं गाते,
जो मुरझाये दिल में भी हैं रङ्ग लाते ॥

(२)

इधर छातियाँ खोल घेरा बनाये,
खड़े हैं अचल शान से सिर उठाये।
इधर खेतियाँ हँस के हैं लहलहातीं,
हृदय में अनेकों उमङ्गें उठातीं ॥

(३)

इधर घर से बिछुड़ी नदी जा रही है,
न जाने भरे दिल से क्या गा रही है।
गुँजाती दिशाएँ भुजाएँ उठाती,
न जाने किसे प्रेम से है बुलाती ॥

(४)

उधर मेघ क्या खेल दिखला रहे हैं,
नये भाव, रङ्गत नई ला रहे हैं।
ये अम्बर है, धरणी का या चित्रपट है,
या कोई छुपा खेल दिखलाता नट है ॥

(५)

जिधर देख लो दृश्य कोई निराला,
नज़र आता मन को न जाता सँभाला।
सभी ओर रङ्गों का जाला तना है,
यहाँ पत्ता पत्ता नज़ारा बना है ॥

(६)

ये क्या खोखलापन, ये क्या शून्यता है,
ये है स्तब्धता क्या, ये क्या मौनिता है।
ये क्या शब्द हैं, और क्या रङ्गतें हैं,
न कुछ सूझ पड़ता है, क्या कह रहे हैं ॥

(७)

ये क्या चीज़ हैं कोई कुछ तो बता दो,
हमें मर्म इनका ज़रा तो जता दो।
खुला है ये आकाश धरती खुली है,
मेरे दिल में करती ये क्या चुलबुली है ॥

(८)

कोई कैसे समझे, सुझावे, विचारे,
ये छोटा सा दिल और ये गहरे नज़ारे।
वह क्या चीज़ है, जो नज़ारा नहीं है,
मगर मन कहीं पर भी टिकता नहीं है॥

(९)

ये मट्टी, ये पत्ते, ये फल फूल सारे,
उसी को समझ आते जो कुछ विचारे।
नज़ारे उसी के लिये हैं जो देखे,
मैं खुद एक नज़ारा हूँ देखे जो समझे॥

(१०)

हे दृश्यों से अपने को दिखलानेवाले!
सभी के दिलों को यों बहलानेवाले!
हे पलपल में रङ्गत बदल देनेवाले!
बिना हाथ तसवीर रच लेनेवाले!

(११)

बहुत कुछ है तू ने यहाँ पर दिखाया,
मगर क्या है? कुछ भी नहीं ये बताया।
दिखा रूप सच्चा ये पर्दा उठा दे,
मेरे दिल में आनन्द-गङ्गा बहा दे॥

टटीरी ! *

—:०:—

(१)

अपने पङ्खों को फैलाये,
गर्दन ऊपर ज़रा उठाये ।
सरिता के पाटों के ऊपर,
जब तू जाये उछल उछल कर ।
बोल—टटीरी ! टिर-टिर-टीर,
जो हर ले इस दिल की पीर ॥

(२)

स्तब्ध निशा हो, सोता हो जग,
तारावलि करती हो जगमग ।
इस चुप्पी में मस्त गले से,
नीरव नभ के किसी किनारे ।
बोल टटीरी ! टिर-टिर-टीर,
जो हर ले इस दिल की पीर ॥

---

* इस कविता में प्रथम चार पंक्तियाँ १६ मात्रा छन्द की हैं—शेष दो पंक्तियाँ १५ मात्रा की हैं। टटीरी एक पक्षी का नाम है जिसे संस्कृत में टिट्टिभी कहते हैं ।

(३)

मूर्त्तरूप आनन्द हृदय में,
जागे, तेरे स्वर की लय में।
फिर फिर सुनने को दिल व्याकुल,
हो जाता है एक वार सुन।
बोल! टटीरी, टिर-टिर-टीर,
जो हर ले इस दिल की पीर॥

(४)

पूर्णचन्द्र की ज्योत्स्ना छाये,
औ तू अपना गान सुनाये।
भरे रङ्ग पर रङ्ग जमाये,
नहीं कोइ जो सिर न हिलाये।
बोल टटीरी, टिर-टिर-टीर,
जो हर ले इस दिल की पीर।

(५)

अमित हर्ष जग में भरने को,
सारी चिन्ताएँ हरने को।
अपनी पूरी चोंच खोलकर,
आशा और उमङ्गों में भर।
बोल टटीरी! टिर-टिर-टीर,
जो हर ले इस दिल की पीर॥

दृश्य

—:०:—

(१)

नील गगन की सुन्दर आभा, उज्ज्वल खिलता हुआ प्रभात,
फूलों की हँसती मालाएँ, तारागण से चित्रित रात।
बहता धीरे धीरे शीतल, भरा सुरभि से सान्ध्य समीर,
लहरों के क्रीड़ास्थल, फेनिल, सरिताओं के दोनों तीर॥

(२)

अन्धकार में रह रह कर के, चपला की शोभा का मेल,
बूँद बूँद कर वारिद दल का, पानी टपकाने का खेल।
हरित पर्ण-वस्त्रों से सज्जित, चारों ओर पसारे हाथ,
ऊपर को मुँह किये तपस्वी, खड़े हुए वृक्षों की पाँत॥

(३)

धवल सरकते पृथ्वीतल पर, झरनों का मधुमय उद्गार,
उन्नत शिखरों पर पर्वत के, अद्भुत रञ्जित हिम का हार।
हँसती हुई तलैटी श्यामल, क्या इकली नीरव सुनसान,
शान्त मौन थिर वनस्थली में, जाते हुए पथिक का गान॥

(४)

एक एक कर के ये सारे, दृश्य सामने आते हैं,
मुग्ध हृदय में नव-मादकता, को पैदा कर जाते हैं।
प्रकृति नटी ने बैठ अकेले, कैसा साज सजाया है,
जिस के आगे रूप जगत् का, एक दीखती-छाया है॥

(५)

सदा चित्र खिंचते रहते हैं, ये जिनके अन्तस्तल पर,
बने पथिक वे फिरें घूमते, पग पग पर विस्मय में भर।
वह गम्भीर विशाल रागिनी, बज उठती दिलमें उनके,
जिस की लय से गुञ्जित होते, रहते हैं जगके पर्दे॥

सरिता तट-पर.

—•• ◦ ••—

(१)

बैठ किसी सरिता के तट पर,
मन्द पवन की थपकी खाकर।
जिन दृश्यों में होकर विह्वल,
मुग्ध हृदय हो जाता चञ्चल।
उनकी शोभा, उनकी रङ्गत,
किसी तरह यदि कर दूँ चित्रित।
अमर हाथ से अपने हे मन!
सार्थक समझूँ तो यह जीवन॥

फूल

—:०:—

(१)

हे फूल ! कहाँ तू भटका,
किन काँटों में आ अटका ।
हैं सूखी सूखी डालें,
अपने में तुझे छिपा लें ॥

(२)

सुन्दरता ऐसी देकर,
पत्तों का दिया तुझे घर ।
क्या उल्टा हुआ विधाता,
जो जोड़ा ऐसा नाता ॥

(३)

क्या तेरी मधुर हँसी है,
कण कण में श्री बिखरी है ।
जब इधर उधर तू हिलता,
आँखों को जीवन मिलता ॥

(४)

यह रङ्गत और कहाँ है,
जो तुझ में भरी यहाँ है ।
* तू चुप होकर वह कहता,
कवि जिसे न कह कह सकता ॥

---

* अथवा—

तू चुप होकर कहता वह,
कवि जिसे न सकता कह कह ॥

(५)

कैसा है जादू तुझ में,
यह आता नहीं समझ में।
* हैं चेतन जड़ हो जाते,
औ जड चेतन हो जाते॥

(६)

देखा है जब से तुझ को,
कुछ नहीं सुहाता मुझ को।
वस ऐसा मस्त हुआ हूँ,
दुनिया को भूल गया हूँ॥

(७)

अब आता है यह जी में,
तेरे ही पास रहूँ मैं।
नहिं एक पलक भी झपकूँ,
तुझ को ही देखूँ—देखूँ॥

* हैं चेतन जड़ बन जाते,
औ जड़ हो चेतन जाते॥

यौवन-उन्मेष

बस दिन रात यही सोचूँ मैं,
बैठ किसी से प्यार करूँ मैं ॥

—पृ० सं० ३७

एक फूल में सौ आशाएँ,
भरती गूँथूँ मैं मालाएँ ॥

—पृ० सं० ३८

उनका रूप पकड़ नहिं पाती,
उस आकृति की रेखाओं में,
किस असीम को भर रक्खा है,
इन बँधी हुई सीमाओं में ॥

—पृ० सं० ४४

दो चाहे कितने ही ताने,
विरही की गति विरही जाने ॥

—पृ० सं० ४६

उन्मेष

(१)

अङ्ग अङ्ग में फूटा यौवन,
झूमे नई उमङ्गों में मन ।
इच्छा हो यह सब अपना-पन,
जाकर करूँ किसी के अर्पण ॥

(२)

नये रङ्ग में चित्रित होकर,
दिखता जग सुन्दरता का घर ।
किसी अनन्त हर्ष में भर कर,
मचल उठे दिल बात बात पर ॥

(३)

प्रेमधार बह बह कर निकले,
सकल विश्व को व्याकुल कर दे ।
बस दिन रात यही सोचूँ मैं,
बैठ किसी से प्यार करूँ मैं ॥

(४)

इसी तान में घुल मिल जाऊँ,
कुछ भी अपना पता न पाऊँ ।
नाचूँ कूदूँ बैठा गाऊँ,
जीवन यों ही सकल बिताऊँ ॥

मेरी मालायें

(१)

उन की स्मृति में होकर विह्वल,
मन जब हो जाता है चञ्चल।
रङ्ग भरे फूलों को लाकर,
प्रेम आँसुओं से उनको भर।
एक फूल में सौ आशाएँ,
भरती गूँथूँ मैं मालाएँ॥

(२)

नये नये भावों में बहता,
धड़क धड़क कर दिल यह कहता।
जीवन की सञ्चित इच्छाएँ,
पलभर में पूरी हो जाएँ।
तन, मन, प्राणों के रखवारे,
यदि आ जाएँ मेरे प्यारे॥

(३)

कम्पित हाथों से मैं जाकर,
ये मालाएँ उन्हें पिन्हाकर।
नूतन छबि को उनकी देखूँ,
देखूँ, देखूँ, बैठी देखूँ।
इस से बड़े भाग्य क्या होंगे,
वे हों आगे इन आँखों के॥

(४)

जैसे अपने में व्याकुल हो,
नदी उठाती निज बाँहों को ।
पर अपना प्यारा नहिं पाती,
दिल ही दिल में है घुल जाती ।
वैसे ये मेरी मालाएँ,
पड़ी पड़ी बस मुरझा जाएँ ॥

(५)

आओ, आओ, प्रियतम ! आओ,
व्याकुलता कुछ कम कर जाओ ।
ये मालाएँ तुम्हें पिन्हाऊँ,
जीवन अपना सफल बनाऊँ ।
फिर शोभा को तेरी देखूँ,
देखूँ, देखूँ, बैठी देखूँ ॥

तुम क्या जानो ?
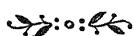
(१)

मैं तुम को कैसी आँखों से,
देखा करती प्यारे ! मेरे।
उस निर्निमेष उत्सुकता को,
तुम क्या जानो, तुम क्या जानो ॥

(२)

किन शब्दों में, किन भावों में,
किस व्याकुलता के गानों में।
करती हूँ याद सदा तुम को,
तुम क्या जानो, तुम क्या जानो ॥

(३)

तुम आते हो औ जाते हो,
अपना वह रूप दिखाते हो।
मुझ पर जो वज्र गिराते हो,
तुम क्या जानो, तुम क्या जानो ॥

(४)

किन रङ्गभरी आशाओं की,—
रेखाओं में चित्रित करती।
बीती सुखमय उन स्मृतियों को,
तुम क्या जानो, तुम क्या जानो ॥

दीपक !

—:o:—

किस की विरहभरी चिन्ता में,
तू जलता है सारी रात,
हे ! दीपक ! तेरी आशा को,
पूर्ण करेगा रम्य प्रभात ।
धक धक करती इस दुखिया की,
पर छाती रह जाएगी,
अगली रातों में जल जल कर,
तेरा साथ निभाएगी ॥

अभ्यर्थना

(१)

खिंचे न जिस से मन प्रियतम का, वह भी कोई रूप,
एक वार में व्याकुल कर दे, सच्चा वही स्वरूप ॥

(२)

जमीं रहें अँखियाँ प्यारे की, उठें अपार उमङ्ग,
दिल में, जिस से ऐसा भर दो, मुझ में कोई रङ्ग ॥

(३)

ऐसी वाणी, ऐसी चितवन, दो मुझ को भगवान्,
जिस से करें निछावर मुझ पर, प्रियतम अपने प्राण ॥

(४)

समझें मुझे सदा अपने इस, जीवन का आधार,
मैं ही मैं बस उन को दीखूँ, मैं ही हूँ संसार ॥

(५)

या तो मुझे बनाओ प्यारे की पूजा का फूल,
या काँटा, जिस से जीवन भर चुभूँ उन्हें दूँ शूल ॥

सम्बोधन ! *

मेरे हो तुम जीवन—ऐसे,
तुम करते सम्बोधन,
नित्य मुझे प्यारे ! पर चञ्चल,
स्वप्न सदृश है जीवन।
कहो मुझे आत्मा तुम मेरी,
यह संबोधन तेरा,
होगा ठीक क्योंकि आत्मा-सम,
प्रेम अमर है मेरा॥

* Lord Byron की एक कविता के आधार पर जो उसने एक पोर्चुगीज़ कविता के आधार पर बनाई है।

उनका रूप

(१)

सदा देखती रही आज तक, मैं नई भावनाओं में भर,
प्यारे को अपने कौतुक की, इन आँखों से अधीर होकर ॥

(२)

नहीं जानती किन्तु अभी तक, भी है स्वरूप उनका कैसा,
रूप बना है मुझ को मेरे, प्रियतम का एक पहेली सा ॥

(३)

उनका रूप पकड़ नहिं पाती, उस आकृति की रेखाओं में,
किस असीम को भर रक्खा है, इन बँधी हुई सीमाओं में ॥

(४)

इसीलिये जब बैठे बैठे, उनकी स्मृति मुझ को हो आती,
उनकी प्रतिकृति रेखाओं में, ही खिंच खिंच कर है रह जाती ॥

(५)

मेरे दिल की सारी धड़कन निश्चल पलकें इन नयनों की,
नहीं बता सकतीं हैं अब तक भी है प्यारे की छवि कैसी ॥

विरह

—०—

(१)

सखियाँ देख देख हँसतीं हैं,
मनमानी बातें कहतीं हैं।
इन को मैं कैसे समझाऊँ,
अपना दिल इन को बतलाऊँ॥

(२)

कैसे घड़ियाँ काट रही हूँ,
पल पल धीरज बाँध रही हूँ।
हृदय हाथ से जाता छूटा,
किसी तरह भी रहा न जाता॥

(३)

दरवाज़े पर बैठी आकर,
रहा नहीं जाता है अन्दर।
शून्य मार्ग में शून्य गगन में,
वार वार देखूँ क्षण क्षण में॥

(४)

श्वास श्वास में धड़के छाती,
छोड़ धीरता उन्हें बुलाती।
कब आएँगे, कब आएँगे,
धैर्य हृदय के कब आएँगे॥

(५)

चिन्ता है उन के आने की,
सुध बुध भूली हूँ खाने की।
दीखे चारों ओर अँधेरा,
क्या अब होगा नहीं सवेरा॥

(६)

एक बार जो उन को देखूँ,
सन्मुख से फिर ना जाने दूँ।
ऐसी चिपटूँ, ऐसी लिपटूँ,
अङ्ग अङ्ग में अपने भर लूँ॥

(७)

मेरी ठण्डी आहें सुन कर,
सखियाँ हँसती हैं खिल खिलकर।
कहतीं हैं ऐसी क्या चिन्ता,
आजाएँगे, बहुत न दिखला॥

(८)

कहो—कहो जो जी में आवे,
प्यास प्रेम की कौन बुझावे।
दो चाहे कितने ही ताने,
विरही की गति विरही जाने॥

पत्र-प्रतीक्षा

(१)

तेरे कागज़ के टुकड़ों की कैसे देखूँ राह,
इन आँखों में तुझे देखने की कितनी है चाह ॥

(२)

कैसे यह अधीरता दिल की कर सकती मैं दूर,
रात दिवस तेरी चिन्ता में मन जब रहता चूर ॥

(३)

बाँध टकटकी दरवाज़े पर देखूँ बारम्बार,
शायद आज आयगा कुछ तो दूर गगन से पार ॥

(४)

पल पल में नवीन आशा के रङ्गों से आकाश,
विह्वल मन का भर उठता है चले वेग से श्वास ॥

(५)

जब सुनती थोड़ी सी आहट खिल उठती मुस्कान—
ओठों पर निर्जीव देह में आजाते हैं प्राण ॥

(६)

उत्सुकता में भर कर देखूँ फिर फिर अपना वेश,
वही आगये ऐसा लगता जब आता सन्देश ॥

(७)

पढ़ती हूँ, फिर फिर पढ़ती हूँ कहीं न होता अन्त,
एक पत्र ऐसा होता है जैसे पत्र अनन्त ॥

(८)

पल में हूँ समेट कर रखती पल में लेती खोल,
प्रेम तुला में फिर फिर देखूँ प्रत्यक्षर का तोल ॥

(९)

अक्षर अक्षर चित्रित करता तेरा भव्य स्वरूप,
जब सोचूँ तब नया नया हो प्रियतम ! तेरा रूप ॥

उपालम्भ

—०—

(१)

हे ! हे ! हृदयाधिप ! रवि ! तू अब चला कहाँ पर जाता है,
अपनी आभा, अपनी शोभा, किसे दिखाने जाता है ॥

(२)

क्या है कोई नूतन प्रेमी, जिस का चित्त चुराना है,
या मेरे इस खिलते दिल को, तुझ को हाय दुखाना है ॥

(३)

तेरी ही इस प्रेम सुधा पर, सदा फूल कर खिलती थी,
तुझ को एक रिझाने के हित, हिलती और मचलती थी ॥

(४)

पर हे ! नाथ ! मुझे अब तज कर, तूने आज किया प्रस्थान,
मेरे लिये भला इस जग में रहा दूसरा कैसा स्थान ॥

(५)

जैसे सब ख़ुश हो जाते हैं अपने प्रेमी प्रिय को मिल,
वैसे ही 'इक' तुझ को पाकर खिल जाता है मेरा दिल ॥

(६)

पर तेरे छिप जाते ही यह, मुखड़ा बस मुरझाएगा,
बार बार इक तेरे हित ही, मेरा दिल तरसाएगा ॥

(७)

चाहे तू मुझ को मुरझा दे, पर मैं तेरा ही गुणगान,
गाते गाते सदा मरूँगी दिल में, रख तेरा सम्मान ॥

(८)

क्या मैंने कुछ ऐसा प्यारे, तेरा किया बड़ा है दोष,
जिस से तू इस जले हृदय को, ऐसा कड़क दिखाता रोष ॥

(९)

पर हे ! रवि ! इस नम्र हृदय में, नहिं कुछ भी माया का स्थान,
फिर भी जला जला कर मुझ को, क्यों लेता है मेरी जान ॥

(१०)

यदि मुझ से है सचमुच रूठा, और न फिर तू आयेगा,
तो मेरा बस तुच्छ देह यह, आज भस्म हो जायेगा ॥

(११

फिर यदि मुझे मनाने को तू, अपना मुख दिखलायगा,
बारंबार मनाते भी यह, कभी नहीं खिल पायेगा ॥

मेरे पिया

—••०••—

मेरे पिया मुझे छोड़ गये।

(१)

मैं अबला कहती उनको क्या,
निर्बल दिल यह तोड़ गये।

(२)

क्या केवल तड़पाने को ही,
हो यह नाता जोड़ गये॥

(३)

भाग्य देवता! तुम क्यों मुझ से,
अपना मुख हो मोड़ गये॥

आगमन

—:०:—

आये हो ।
इस वसन्त के नव उपवन में, नई सुरभि तुम लाये हो ॥

(१)

व्याकुल दिल था, नयन विकल थे तेरे दर्शन करने को,
नये साज में, नया साज धर, प्रियतम ! खूब सुहाए हो ॥

(२)

यह वसन्त शृङ्गारशिरोमणि, कर शृङ्गार जलाता था,
इस नटखट को सीधे रस्ते, पर अब तुम ले आए हो ॥

(३)

मचल मचल कर रुन झुन करती हँस हँस कर मैं घूमूँगी,
शीतल मन्द समीर बहेगा, दिल आँखों में छाए हो ॥

विविध

-:o:-

जान सकता कौन है गम्भीरता,
उस हृदय की जो भरा है दुःख में ।
बोल सकता है नहीं पर विवश हो,
सनसनाती वायु सा झंकारता ।

—पृ० सं० ६६

आँसुओं का झरना
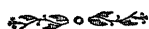
तेरी काव्यमयी आँखों से जो झरना है झरता ॥

(१)

शैल-हृदय के वह टुकड़े कर,
उस में नव संजीवन को भर ।
अतुल रागिनी अन्तरिक्ष की नीरवता में भरता ॥

(२)

ऊपर से नीचे को आता,
इस का वेग कौन लख पाता ।
देव मर्त्य का एक सूत्र में है यह बन्धन करता ॥

(३)

इस के जल में आग भरी है,
शीतलता ऊपर दिखती है ।
स्नान करे जो सदा रहेगा वह आजीवन जलता ॥

कभी

—:०:—

(१)

झूम झूम कर अपने विह्वल,
दिल की बात सुनाये जा,
गाये जा गान-बजाये जा,
अपनी तान चढ़ाये जा।
कुछ भी समझ नहीं पड़ती हो,
इस की कुछ परवाह नहीं,
अपनी अमृतमय वाणी की,
नदियाँ यहाँ बहाये जा।
कोना कोना कभी तुम्हारे गानों से भर जायेगा,
दिल सूखे हैं उन्हें सींच कर हरा भरा कर जायेगा॥

नीरव उद्गार *

जैसे श्रावण की घनमाला—
फूट पड़े असीम धारों में—
जल की। जैसे स्तब्ध निशा की,
सुन्दरता असंख्य तारों में—
होती है प्रस्फुटित।
हृदय के—
हे! मेरे नीरव उद्गारो—
भाषा की अनन्त धारों में—
फूटो वैसे प्रबल वेग से।
इस समस्त विस्तीर्ण जगत् के—
गगन और धरती के अन्दर—
भर दो एक नई सुन्दरता।
तान गुँजा दो ऐसी जिस से—
जाग उठें वे भाव सदा जो—
रहते हैं सोये हृदयों में॥

---

* यह १६ मात्रा के छन्द में चतुर्दशपदी लिखी गई है।

एक वार तो *
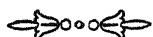
इस श्रावण की अर्धरात्रि में–
ढाँप दिया है जब मेघों ने–
सारे इस तारा मण्डल को।
भारी होकर पवन बह रहा,
बज उठ हे ! बाँसुरिया मेरी
एक बार तो। अपनी अनुपम–
स्वर लहँरी से कर दे चञ्चल–
यह निस्तब्ध विश्व। बह निकले–
रसधारा अपार धारों में।
सान्द्र घनों से। हों आप्यायित–
भर भर कर सरिताएँ जल से।
उछल उछल कर लिपट लिपट कर,
ऊँची ऊँची उत्तालों में–
लहराएँ लहरें नदियों की॥

---

* यह कविता १६ मात्रा के छन्द में चतुर्दशपदी लिखी गई है।

रागिया !

(१)

जहाँ पै बैठे हैं सुनने वाले भी देख कानों पै हाथ देकर,
सुना रहा है क्यों राग अपना ! ए रागिया ! मस्त हो यहाँ पर ॥

(२)

बजा के अपनी हृदय की तारें तू झूम कर तान है उड़ाता,
इधर ये कहते हैं कौन पागल है गा रहा सिर हिला हिला कर ॥

(३)

तुम्हारे ओंठों पै भी हँसी है मधुर, सुकोमल, सुहावनी है,
इधर भी ये मुँह बिगाड़ करके हैं हँस रहे ख़ूब खिलखिलाकर ॥

(४)

मज़ा है दोनों का क्या अजब है यहाँ बनी है निराली सङ्गत,
न जानते हैं जो राग क्या है उन्हें सुनाता तू राग गाकर ॥

(५)

थकेगी तेरी ज़ुबान होगी इधर से केवल है राग अच्छा,
जो पूछ लोगे कि क्या कहा था तो टाल देंगे वे मुसकराकर ॥

अन्वेषण

(१)

ढूँढ़ता फिरता हूँ अपना घोंसला,
साँझ हो आई है अब सूरज चला।

(२)

चहचहाते बैठ घर में मौज से,
और साथी रह गया मैं एकला ॥

(३)

काम से दिन के थके हैं पङ्ख सब,
अब मिले आराम मुझ को कब भला ? ॥

(४)

भूल घरको हाय मैं कैसे गया,
साँझ जिस में था सदा आता चला ॥

(५)

रात अब सारी कटेगी किस तरह,
घर बिना सब टूटता है हौसला ॥

(६)

सूर्य के क्या डूबने के साथ ही,
भाग्य भी है अस्त मेरा हो चला ॥

आगे आगे

—•• ◦ ••—

तुझे पंथिक बनना होगा,
आगे आगे चलना होगा ॥

(१)

अपना कौन ? कौन बेगाना ?
कहाँ ठहरना ? कहाँ ठिकाना ? ।
परिचयहीन विश्व में तुझ को आगे आगे चलना होगा ॥

(२)

साथी सङ्गी इस दुनिया के,
वहीं छूटते जहाँ बनाये ।
तोड़ जाल माया ममता के आगे आगे चलना होगा ॥

(३)

अपनी गठरी आप उठाकर,
कहीं नहीं टिकते जो पलभर ।
उन की तरह तुझे भी प्यारे ! आगे आगे चलना होगा ॥

(४)

भय क्या तब इकला जाने में,
जब न किया इकला आने में ।
अब भी इकले, सदा अकेले, आगे आगे चलना होगा ॥

बहुत दिनों के बाद

(१)

जीवन नौका पड़ी हुई थी लङ्गर डाले,
भव समुद्र में थे सारे केवट मतवाले ॥

(२)

चले बड़े तूफ़ान वहीं आँधी पर आँधी,
चलने को पतवार नहीं पर हमने बाँधी ॥

(३)

बेसुध थे, यह हवा और बेसुध थी करती,
नई कल्पना से आशा थी दिल को भरती ॥

(४)

चले चलेंगे, जल्दी क्या है, यही सोच कर,
मस्त पड़े रहते थे नहीं थी कोई फ़िकर ॥

(५)

बीते बरस पलों में पर वह बेहोशी,
टूटी नहीं, कभी चढ़ी हुई हम पर जो थी ॥

(६)

एकाएक हुआ भूकम्प हवाएँ बदलीं,
छोटी नौका अपने आप अचानक सँभली ॥

(७)

धक्के खाकर आज उठाया हमने लङ्गर,
बाँधी है पतवार उठे हैं चप्पू लेकर ॥

(८)

किया दिशा का ज्ञान चले अब आगे आगे,
बहुत दिनों के बाद आज निद्रा से जागे ॥

(९)

शान्त दिशा है, शान्त सिन्धु है, शान्त पवन है,
आतुरता से भरा हुआ पर व्याकुल मन है ॥

(१०)

गये हुए बीते पर क्या रोना पछताना,
हिम्मत बाँधे साहस से है चलते जाना ॥

(११)

कब पहुँचेंगे बस अब एक यही चिन्ता है,
चलते जाँय न ठहरें कहीं यही इच्छा है ॥

(१२)

मंचले पवन, तरङ्गें उछलें, ऊपर आयें,
पर ये डरते-हृदय नहीं जो कुछ घबरायें ॥

(१३)

दीखेगा अवश्य ही हम को कभी किनारा,
इन हाथों का उस ईश्वर का एक सहारा ॥

दर्शन

—:०:—

मेरी आँखों के आगे वह,
चित्र खिंचा है,
चित्रित सी हो,
खुली हुई हैं दोनों आँखें।
कलम लिये बैठा मैं सोचूँ,
कैसे खींचूँ कैसे खींचूँ,
तेरी उस निस्तब्ध मूर्ति को।
अपने दिव्य नयन को खोले,
बाल्यकाल की चञ्चलता को,
उत्सुकता में लिये हुए जब,
बैठा था तू स्तब्ध रात्रि में,
शङ्कर के दर्शन करने को,
शङ्कर की प्रतिमा के आगे।
वायु सुप्त था, श्वास गूँजता—
था सोनेवालों का पर तू—
किस चैतन्य दीप्ति से जलतीं—
निर्निमेष आँखों को खोले,
करता था आवाहन प्रभु का—
भक्तिपूर्ण बालक के दिल से॥

*　*　*　*

गजर बज उठा घोर तिमिर में,
ज्ञान सूर्य की मधुर उषा में–
हृदय पद्म खिल गया, आगये–
सन्मुख निर्निमेष आँखों के–
निराकार चेतनमय शङ्कर–
सुप्त भाग्य जागे भारत के ॥

स्मृति

–:०:–

(१)

बज रहा हो झनझनाता एक तार,
दुःखमय स्वर में विजन में जिस तरह
शून्यमय आकाश को निस्तब्ध कर,
रागिनी करुणामयी देता बहा ॥

(२)

क्यों न वह बजता हो धीमी तान में,
शान्ति को भर दर्दसे देगा रुला ।
घोर व्याकुलता, विरह की तीव्रता,
क्यों न दे जड़ वस्तुओं को भी जगा ॥

(३)

जान सकता कौन है गम्भीरता,
उस हृदय की जो भरा है दुःख में ।
बोल सकता है नहीं पर विवश हो,
सनसनाती वायु सा झंकारता ॥

(४)

उस तरह हे कवि ! तुम्हारा दुःख भी,
प्रेममय विरहाश्रुवाणी से भरा ।
उठ रहा एकान्त से इस चित्त में,
जो ढका था पूर्व विस्मृति मेघ से ॥

(५)

है जगाता वेग से उस याद को,
जो पड़ी सोई हुई थी मोह में।
खींच कर फिर उस पुराने चित्र को,
दुःखमय करता जगत् आनन्दमय॥

(६)

दुःख में आनन्द क्या क्या हैं भरे,
कोई समझेगा इसे प्रेमी हृदय।
मैं तुम्हारे दुःखमय इस राग में,
क्या कहूँ आनन्द में हूँ झूमता॥

(७)

जो न स्मृति होती हमारे चित्त में—
स्थिर बिताये जीवनों की पुण्यतम।
हम भटकते घोरतम अन्धेर में—
हा! न होता सूर्य का जिस में उदय॥

(८)

यह कली दिल की न फिर खिलती कभी,
सुरभि से व्याकुल न फिर बहता समीर।
यह जगत् बस घोर निद्रा में शयन—
एक करता फिर न होता जागना॥

टर्की !

—+—

(१)

सँभल सँभल है लगी पलटने, पल भर में काया तेरी,
तुझ पर ही अब क्रूर काल ने, देख नज़र अपनी फेरी।
किधर जायगी होगा तुझ पर, ऐसा भीषण अत्याचार,
कुचली जाएगी स्वतंत्रता, तेरे प्राणों की आधार ॥

(२)

वह सुख, वह आनन्द सभी कुछ, तेरा हो जाएगा दूर,
जिस में अब तक भूल सभी कुछ, तू रहती थी होकर चूर।
स्वप्नसदृश वह कथा पुरानी, तेरे आगे नाचेगी,
तू रोएगी अपनी बीती, सब को कथा सुनाएगी ॥

(३)

कभी समय था तेरा डंका, ही बजता था चारों ओर,
क्या यूरोप सभी डरते थे, सुनकर टर्की ! तेरा शोर।

तूने ही इसलाम धर्म का, लेकर कठिन क्रूर तलवार,
सारे जग में अपने बल से, कभी किया था खूब प्रचार ॥

(४)

किन्तु आज तो दैवचक्र ने, उलटा ही पलटा खाया,
जो नीचे था-देख वही है, पीठ ठोक ऊपर आया ॥
तेरे दास बने हैं मालिक, तेरा करते बटवारा,
तू चुपचाप पड़ी है अब तक, आन चढ़ा है हत्यारा ॥

(५)

वह गर्वीला झण्डा तेरा, देख हाय गिर जाएगा,
अभी मिनट में दर्प तुम्हारा, मट्टी में मिल जाएगा।
फिर तो तेरा इस दुनिया में, नहीं बचेगा नाम निशान,
तेरी ओर नहीं यह देगा, सभ्य जगत् तब कुछ भी ध्यान ॥

(६)

तू अपने अधिकार कहेगी, कर अपने आवाज़ बुलन्द,
ये अधिकारी झट कर लेंगे, तब अपने कानों को बन्द।
तेरे शोर मचाने का तो, कुछ भी होगा नहीं प्रभाव,
उलटे ये काबू कर लेंगे तुझ को खेल अनूठे दाव ॥

(७)

पराधीनता निबिड़पाश में, तू ऐसे फँस जाएगी,
त्यों फँसती ही जाएगी, ज्यों बाहर आना चाहेगी ।
तुझे छोड़ ही देने होंगे, छुट जाने के सभी विचार,
बड़ा कठिन होगा तब तेरा, पा लेना इनसे उद्धार ॥

(८)

शक्ति अगर है कुछ भी तुझ में, यही समय है दिखला दे,
जो निर्बल समझे हैं तुझ को, निज बल उन को जतला दे।
अपने देश जाति के ऊपर, तू कर दे सब कुछ बलिदान,
अगर चाहती है कुछ रखना, इस दुनिया में अपना मान ॥

(९)

पुण्य बहेगी रुधिरधार जब, तुझ पर तेरे वीरों की,
तेरे ऊपर उठने की तब, कुछ आशा बँध जाएगी।
तेरी ओर दृष्टि सब ही की, दौड़ एकदम आती है,
क्या करती हैं देखें टर्की, बचती है या जाती है।*

---

* जिस समय टर्कीकी स्वाधीनता ख़तरेमें थी, उस समय यह कविता लिखी गई थी।

समस्या

—:०:—

(१)

छाई है घोर घटा घन की,
कैसी है नीरवता वन की।
बस चारों ओर अँधेरा है,
किस विपदा ने आ घेरा है।
चुप्पी में कौन पुकार रहा,
यह कान नहीं है दिल सुनता।
किस ओर को पैर उठाऊँ मैं,
कैसे तेरे तक आऊँ मैं।
तू छिपा कहाँ पर रहता है,
दिल घबरा कर यों कहता है
मैं किसी तरह से जा निकलूँ,
तेरे ही घर पर आ निकलूँ॥

(२)

पूछूँ मैं राह यहाँ किससे,
हैं सारे ही जब भटक रहे।
कोई भी नहीं सहारा है,
जाना है कहाँ किनारा है।
दीपक यह कौन दिखाता है
आँखें नहिं हृदय बताता है।
किस ओर०

(३)

पग पग पर ठोकर खाता हूँ,
नहिं फिर भी होश में आता हूँ।
झाड़ों में उलझा जाता हूँ,
क्यों आया हूँ क्यों जाता हूँ?
धीरज यह कौन बँधाता है,
यों मुझे चलाता जाता है।
किस ओर०

(४)

भूल गई जीवन की बातें,
छोड़ गई आँसू आँखों में।
क्या दुःख निशा यह आई है,
जाती ही नहीं बिताई है,
यह कौन अकेला आता है,
झाँकी दिखला छुप जाता है।
किस ओर०

(५)

मैं तेरा हूँ—तू मेरा है,
कैसा यह प्रेम घनेरा है।
पर्दों में तू छिप कर आता,
मुझ से कैसे जाना जाता।
तड़पा अब और न तू आ जा,
अपना रस्ता बतलाता जा।
किस ओर०

अनुक्रमणिका ।

विषय				पृष्ठ